VOL- IX | ISSUE- V | MAY | 2022 | PEER REVIEW e-JOURNAL | IMPACT FACTOR 7.331 | ISSN 2349-638x

डॉ. राधाकृष्णन् का सामाजिक दर्शन

डॉ. अल्पना व्यास
सहायक आचार्य (राजनीति विज्ञान)
चौधरी बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या महाविद्यालय, श्रीगंगानगर

सारांश

मनुष्य का सामाजिक होना ही इस बात की पुष्टि करता है कि उसके पास चिन्तनशील मस्तिष्क और सामाजिक मर्यादाएँ हैं, जो कि उसे जानवरों से अलग करता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने राजनीति, धर्म, शिक्षा, आध्यात्मिक के साथ ही सामाजिक दर्शन पर भी अपने विचार दिए हैं। डॉ. राधाकृष्णन् का मानना है कि सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए वेदों, उपनिषदों में दी गई व्यवस्था सर्वोपरि है जो सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाते हैं, न कि पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण। डॉ. राधाकृष्णन् विज्ञान के आलोचक नहीं थे बल्कि उनका कहना था कि उपयोगिता उसी में है यदि वह समाज का कल्याण करे और मानव समाज, मानव जाति की उन्नति में सहायक बने।

मूल शब्द : मानव, समाज, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान, राधाकृष्णन् के विचार, धर्म, नैतिकता।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् धर्म और दर्शन के महान् दार्शनिक थे। एक साधारण शिक्षक पद से सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणतंत्र के राष्ट्रपति पद तक पहुंचना कोई साधारण बात नहीं है। इस पद को प्राप्त करने वाले यह प्रसिद्ध भारतीय थे। सामाजिक जीवन व विकास पर उनके विचारों की प्रासंगिकता हमेशा बनी रहेगी। डॉ. राधाकृष्णन् का विचार था कि आज जातियों और राष्ट्रों को एक दूसरे से अलग करने वाली भिन्नताओं का यदि हम कोई समाधान प्राप्त करना चाहते हैं तो इसके लिए हमें यह मानकर चलना होगा कि आधुनिक संसार अनिवार्यत आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से एक है।

किसी भी सामाजिक संगठन पर विचार करते समय हमें उन तात्विक विचारों को, जिन पर उसकी नींव रखी गई है, उस जीवन दर्शन की जि ससे वह प्रेरणा लेते हैं और उन रूपों की जिनमें जीवन सम्बन्धी ये विचार अभिव्यक्त पाते हैं जानकारी कर ही लेनी चाहिए। प्रेरणादायक विचार अपने मूर्तिमन्त ऐतिहासिक रूपों से कहीं बड़े हाते हैं। व्यक्ति और समाज के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध के विषय में हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण को उत्तम रीति से समझने के लिए इन बातों पर ध्यान देना होगा–

१. चार पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।
२. समाज के चतुवर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र।
३. जीवन क चार सोपान– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास।

चार पुरुषार्थ

१. धर्म

धर्म से विभिन्न कार्यों में संगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है। धर्म जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव का सामंजस्य हे जो अपनी जीवन चर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है। यद्यपि मनुष्य को अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करने का न्यायोचित अधिकर है लेकिन इसके

लिए धर्म के अनुकूल आचरण भी आवश्यक है नहीं तो मनुष्य अपनी इच्छाओं का सर्वोत्तम सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

२. अर्थ

यह धन और भौतिक कल्याण से सम्बन्धित है। आध्यात्मिक जीवन को भी उन्हीं समाजों में विकसित होने का पूरा अवसर मिलता है जो आर्थिक संकोच से मुक्त रहते हैं।

३. काम

मानव की आवेगात्मक अनुभूतियों ओर उसकी इच्छाओं का नाम ही काम है और इससे मनुष्य को वंचित रखना उसके मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के लिए विनाशकारी होती है, जिसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है।

४. मोक्ष

मोक्ष मनुष्य का प्रमुख लक्ष्य है व्यक्ति का विकास सम्पूर्ण जीवन को आत्मा की शक्ति और सच्चाई पर आधारित करना ही मोक्ष या आध्यात्मिक स्वतंत्रता है।

चतुवर्ण

धर्म का उद्देश्य मनुष्य के प्रकृत जीवन की विशुद्धता, स्वतंत्रता और विविधता में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप किए बिना उसको नियंत्रण में रखना है। इसके दो पक्ष हैं– सामाजिक और व्यक्तिगत। अपने गुण और कर्म के आधार पर मनुष्यों का समाज में अपना एक स्थान होता है और उस स्थान के अनुरूप उनको कुछ कर्त्तव्य भी करने होते हैं, इन्हीं का वर्ण धर्म कहते हैं।

चतुवर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में मितला है उनके अनुसार ब्रह्मा के शरीर से इन वर्णों की उत्पत्ति हुई सिर से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, जांघा से वैश्य की और पैरों से शुद्र की। मानव जाति संसार के प्रति अपने लक्ष्यों में सार्वभौतिकता पर जो बल देती है, वही मनुष्य की सामाजिकता को स्रोत है।

व्यक्ति की स्वतंत्र एवं अबाधित विकास तथा समाज की स्वस्थ उन्नति– ये दो ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके द्वारा सब प्रकार की सामुदायिक जीवन शासित होना चाहिए व्यक्ति और समाज दोनों अन्योन्याचित है। व्यक्ति का सम्यक् विकास होने से समाज की भी अच्छी उन्नति होती है और समाज की स्वस्था दशा में व्यक्ति भली प्रकार उन्नति करता है।

मनुष्य एक निरपेक्ष व्यक्तित्व नहीं है। समाज में रहते हुए उसका जैसा चरित्र, आचरण और कर्म होते हैं, उन्हीं के अनुसार वह किसी न किसी विशिष्ठ सामाजिक समुदाय से सम्बन्धित होता है। चार वर्णों के अन्तर्गत समाज के विभाजन को जब ईश्वर का आध्यादेश या आत्मा का विधान मान लिया जाता है तब उसका अर्थ यह होता है कि आध्यात्मिक विवेक, क्रियात्मक शक्ति, कुशल उत्पादन और नैष्ठिक सेवा किसी भी सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्त्व है। समाज में जो चतुर व्यक्ति है, उनका काम है समाज व्यवस्था की योजना बनाना, जो शक्तिशाली है उसका काम है उसको स्वीकृति प्रदान करना अर्थात् ऐसी सत्ता से उसका समर्थन करना जिसके पीछे शक्ति हो और जो कुशल व्यक्ति है उनका काम है उस व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए स्वयं कार्य करना या नैष्ठिक श्रमिकों की सहायता से उसको करा डालना, लोक–संवृद्धि के निमित्त ही चतुर्वर्ण की कल्पना की गई है। यह विशेषता हिन्दूओं के लिए ही नहीं है, प्रत्युत समस्त मानव जाति के साथ इसका सम्बन्ध है। सारी मानव जाति का प्रारब्ध एक है, जिसको यह इतिहास की सहस्त्राब्दियों में खोजती और उपलब्ध करती है।

चूंकि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है अत: समाज में उसका एक स्थान अवश्य सुरक्षित रहना

चाहिए ताकि वह उससे अधिकतम सहायता प्राप्त कर सके।

आज राष्ट्रीय हितों और वस्तुनिष्ठ सत्य को भ्रमवश एक समझने की प्रवृत्ति बहुधा पाई जाती है। जब विचारक और मनीषी सामान्य जनता के स्पर पर उतर कर जाति, वर्ग या राष्ट्र की लालसाओं को पूर्ण करने लग ज ाते हैं तब वे अपने कर्म से विरक्त हो जाते हैं जब वे अपनी चेतना को राजनीतिक मनोवृत्ति के साथ संलग्न कर लेते हैं, जब वे समाज को मानवता और सभ्यता की दूरदर्शिता पूर्ण कल्पना नहीं दे पाते तब समस्त सामाजिक ढांचा लड़खड़ा जाता है।

ब्राह्मण की काम जीवन–मूल्यों के विज्ञान को निर्धारित करना है, सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना तैयार करना है और जीवन के उच्चादर्शों को स्वीकार करने क लिए संसार से आग्रह करना है और क्षत्रिय का काम है इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपाय करना।

राज्य का अस्तित्व इसलिए है ताकि उसके नागरिक अच्छा जीवन व्यतीत कर सकें। यह एक सामाजिक सुविधा है। राज्य अपने आचरण का स्वयं ही न्यायकर्त्ता नहीं बन सकता। यदि भलमानसता शक्ति पर निर्भर करती है तो भी यह कहना गलत है कि यह बलवार की इच्छा है। राज्य नैतिक नियमों से ऊपर नहीं होता। उसका अस्तित्व अनिवार्यत: व्यक्ति के लाभ के लिए है, इसलिए उसका व्यक्ति के बलिदान की मांग करने का पूरा अधिकार है उसको कार्य करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ मिलें।

हमारी पीढ़ी का एक बड़ा काम है हमारी सभ्यता के भौतिक ढांचे में वास्तविक लोकतंत्र का समावेश करना एक ऐसे विश्व समाज की स्थापना के लिए कार्य करना, जो सभी मनुष्यों के लिए सांस्कृतिक अवसर प्रदान करने में कहीं अधिक समर्थ हो और अपने सम्बन्धों में वह कहीं अधिक भ्रातृत्वपूर्ण हो।

समाज में जहां प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत: नि:स्वार्थ और स्नेहशील हो, वहां सरकार अथवा शक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी, परन्तु पूर्णता की यह स्थिति कदाचित केवल मनुष्यों के लिए उपयुक्त न हो। शक्ति प्रयोग की आवश्यकता ही इस बात का चिह्न है कि राज्य अभी पूर्णता की स्थिति को नहीं पहुँचा है।

समाज की तृतीय श्रेणी है वैश्यों की जो धन कमाने, उसका सुखापभोग करने और उसके लेन–देन की जीवनगत प्रवृत्ति को प्रश्रय देती है। अपनी ब्राह्य क्रिया में समाज की यह शक्ति उपयोगितावादी और वाणित्य तथा उद्योग में लगे व्यावहारिक मस्तिष्क वाली जान पड़ती है। यदि उनकी अभिरूचि केवल धन के लिए धन कमाने से है तो वे विगर्हणा के पात्र हैं। समाज के आध्यात्मिक कल्याण या उसकी राजनीतिक सत्ता भी संवृद्धि में योगदान देना उनका प्रमुख कार्य नहीं है, फिर भी हम उनके सहयोग के बिना इन चीजों को उपल्ध नहीं कर सकते।

चतुर्थ वर्ण के सदस्यों की क्रियाएं मूल प्रवत्यात्मक है ज्ञान, बल या पारस्परिक सेवा के आदर्शों के द्वारा शासित नहीं है। ज्ञान के शोधार्थी का अपनी शोध में ही आनन्द का अनुभव होता है। इसलिए वह कार्य करता है, कर्मठ नायक प्रतिष्ठा की भावना से कार्य करता है, कलाकार और कुशल शिल्पी अपने कला प्रेम के कारण कार्य करता है, इसी प्रकार निम्नतम श्रेणी के श्रमिक में भी श्रम के गौरव की भावना काम करती है। यद्यपि ये सभी सामाजिक आचार नियम से प्रभावित होते हैं, साथ ही अपने आपको साधारणातया सामाजिक व्यवस्था की योजना और उसमें उनके अपने स्थान की जानकारी नहीं होती।

सभी कार्यों में मनुष्य को पूर्णता तक पहुंचाने की शक्ति होती है, तो भी मनुष्य के सामाजिक स्थान और उसके वैयक्तिक, सांस्कृतिक विकास को सम्बद्ध करने वाला श्रेणी विभाजन हो जाता है जो कि प्रकृति का नियम है कोई बल पूर्वक थोपी गई क्रिया नहीं। सामाजिक व्यवस्था से आशा की जाती है कि वह एक प्रकार के लोगों को उत्पन्न करेगा और उनको आगे के विकास के लिए सुविधाएँ तथा वातावरण तैयार करेगा।

जीवन के चार आश्रम

हिन्दुओं ने जीवन योजना बनायी उसमें व्यक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त करने का एक खाका तैयार करके दिया जाता है। मानव जीवन इन ४ सोपानों के द्वारा ही मूर्त रूप लेता है।

१. ब्रह्मचर्य

मानव संतति का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा करने हेतु लम्बे समय तक शिक्षण आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य मस्तिष्क में ज्ञान उडेलना नहीं वरन् बच्चों में प्रकृति के अनुसार विकास हेतु सहायता देना, उसको भीतर से बदलता है। यह सोपान जीवन को मूर्त रूप देता है।

२. गृहस्थ

मानव जीवन का मूलाधार गृहस्थ है। समाज में अपना एक स्थान बनाकर उसको बनाए रखता है। स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखता है तथा समाज क प्रति भी अपना अंशदान करता है। वैवाहिक जीवन से मानवीय तत्त्व को विलग कर देना जीवशास्त्रीय व सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अस्वास्थ्यकर है।

३. वानप्रस्थ

समाज में व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पूर्णकर एकान्त में चला जाता है, सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर खुले वातावरण में आत्मा के अस्तित्व को अपने ही भीतर ढूंढने की चेष्टा करता है।

४. सन्यास

इस सोपान में व्यक्ति अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर देता है, धार्मिक क्रियाओं को छोड़ देता है क्योंकि उसने अपने आपको पूर्ण बना लिया है इसलिए वह अपनी आत्मा को विकास के लिए व्यापक क्षेत्र देना चाहता है। संसार की मुक्त गति में वह अपनी सारी शक्तियों को झोंककर संसार को रूपान्तरण के लिए बाध्य कर देना चाहता है। सन्यासी सामाजिक समुदाय या राज्य के विधि–नियमों का आज्ञानुकारी बनकर कार्य नहीं करता वह अपने आचरण का स्वयं स्वामी होती है क्योंकि उसने अपने अन्त:करण में उस जीवन का साक्षात्कार कर लिया है जो समस्त नियमों का स्रोत होता है तथा जो स्वयं नियमों के अधीन नहीं होता।

२६ सितम्बर, १९९५ में दिए गए अपने भाषण में डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा– "हमें समाज से मनुष्यकृत असमानताओं और अन्यायों को दूर करना होगा और व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक विकास के लिए सबाके समान अवसर देने होंगे। हमें एक ऐसे समाज की स्थापना करनी चाहिए, जिसमें सभी सदस्यों को आर्थिक न्याय व अवसर सुलभ हो।"

हमें समाज से मनुष्यकृत असमानताओं और अन्यायों को दूर करना होगा और व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक विकास के लिए सबको समान अवसर देने होंगे। हम लोगों का लापरवाही और भाग्यवाद का छोड़कर आत्म–ज्ञान और आत्म–गौरव प्राप्त करना आशा का आधार है। हमारे अन्दर मनुष्यता को मनुष्यता का नाश करने वाली बातों के विरोध में उठ खड़ा होना चाहिए, हमें चाहिए कि हम मनुष्य के दुनिया के कई भागों में जातीय भेदभाव का बोलबाला है हालांकि वे लोग सिद्धान्तत: इसके विरोधी है।

सोवियत संघ में जातियों का सामंजस्य है। वहां विभिन्न जातियों के लोग एक–दूसरे के साथ मेल से रहते हैं और यह महसूस करते हैं कि वे एक ही समाज के सदस्य है। उन्नतिशील लोकतंत्रों तक में हम श्रेष्ठता की भावना जातीय पृथ्थकरण, जाति विशेष के क्लब, काले गोरे का भेद देखते हैं, जब तक जातीय उत्पीड़न जारी है और उसके खिलाफ रोष और द्वेष जारी है तब तक दुनिया में शान्ति दुलर्भ है।

इन स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को काबू में करने के लिए हमें प्रयत्न और संयम की आवश्यकता है। ये चीजें विज्ञान से नहीं बल्कि धर्म की साधना से प्राप्त हो सकती है– उस धर्म की जो आत्म–ज्ञान और आत्म संयम को प्रधानता देता है। इनसे सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति प्रेम पैदा होगा और गुटों के प्रति लोगों की श्रद्धा जाती रहेगी।

इस समय हमें अपनी जीवन–शक्ति के स्त्रोतों की ओर वापस लौटना है। दुर्भाग्य से हमारे जीवन में एक अजीब बात आ गई है। हहम तुच्छ बातों पर शक्ति जाया करते हैं और एक दूसरे में दोष ढूंढते हैं। गांव से लेकर उच्चतम स्तर के समूह तक छोटी–छोटी बातों को लेकर व्यक्तिगत झगड़ों में फंसें हैं और देश की बड़ी से बड़ी आवश्यकताओं की उपेक्षा कर देते है। हमें अपनी राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक और आर्थिक विभाजनों को दूर कर देना चाहिए और उसकी एकता का निर्माण करना चाहिए। हम एक खतरनाक दुनिया में रह रहे हैं और हमें सावधान रहने की जरूरत है। केवल अपनी आंतरिक शांति से ही हम बच पाएगें। हमें स्वार्थ को नीचे रखकर राष्ट्र के हित के लिए काम करना चाहिए। विज्ञान का उपयोग सामाजिक कल्याण के लिए होना चाहिए। घृणा और हिंसा से खण्डित इस दुनिया में इस तरह की संस्थाएं वैज्ञानिक अनुसंधानों की अन्तरराष्ट्रीयता पर जोर देती है।

सामाजिक संदर्भ में उनके विचारों की देन को नकारा नहीं जा सकता। डॉ. राधाकृष्णन् ने

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को शान्त व आनन्दपूर्ण जीवन का मार्गदर्शक बताया साथ ही राधाकृष्णन् का मानना है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति नि:स्वार्थ और स्नेहशील हो, लोक कल्याण की भावना से अपना कर्त्तव्य करें वहां सरकार अथवा शक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी।

आज के इस भौतिकवादी व पाश्चात्य संस्कृति के अनुगामी माहौल में उनके सामाजिक विचार अति प्रासंगिक हैं इनके विचार सम्पूर्ण क्षेत्र में मार्ग निर्देश करते हैं। इस दिव्य पुरुष, मानवतावादी दार्शनिक के विचार चारित्रिक विकास के साथ–साथ मस्तिष्क को उन्मुक्त करती है, साथ ही मुक्ति की राह दिखाती है विश्व बन्धुत्व की ओर ले जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ. राधाकृष्णन्–प्राच्य धर्म और पाश्चातय विचार, पृष्ठ ३८४–४१८
२. डॉ. राधाकृष्णन् – भारतीय संस्कृति कुछ विचार, पृ. १७५
३. २६ सितम्बर, १९९५ को दिया गया भाषण।
४. २५ जून, १९५६ को कीव रेडियो से प्रसारित भाषण।
५. ३ अक्टूबर, १९५६ को विश्व धर्म सम्मेलन टोक्यो उद्घाटन भाषण।
६. २६ दिसम्बर, १९४६ को धर्मानुशील संघ की भारतीय शाखा के समक्ष दिया गया भाषण।
७. १८ जून, १९५६ को मास्को विश्वविद्यालय में अवैतनिक प्रोफेसर नियुक्त किए जाने के अवसर पर दिया गया भाषण।
८. १२ जुलाई, १९५६ को गांधी स्मारक अकादमी नैराबी उद्घाटन भाषण।
९. १४ नवम्बर, १९५६ को बीरबल साहनी इंस्ट्टियूट लखनऊ में दिया गया भाषण।